हिंदी नाटक

हिंदी नाटक : नई परख

हिंदी नाटक : नई परख

संपादक
रमेश गौतम
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
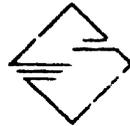
स्वराज प्रकाशन

यह प्रयास

सौम्या

और

वैशाली

के नाम

प्रस्तावना

हिंदी नाटक की सर्जनात्मकता का इतिहास लगभग सवा सौ साल पुराना है। आधुनिकता के प्रवेश-द्वार भारतेंदु काल से हिंदी नाटकों की शुरुआत मानी जाती है। तब से लेकर अब तक विकास और बदलाव के कई पड़ावों से गुजरते हुए हिंदी नाटक की सर्जनात्मक भूमिका बनी है। देश और काल की पारिवेशिक परिस्थितियों के अनुरूप हिंदी नाटक का स्वरूप बदला और विकसित हुआ। संवेदना और संरचना दोनों ही दृष्टियों से हिंदी नाट्य-साहित्य में काफी विविधता है। रचनाकारों ने अपनी चिंतन-दृष्टि और प्रयोगशीलता का परिचय देते हुए समय-समय पर हिंदी नाट्य विधा के नए-नए संस्करण बनाए। यह पुस्तक हिंदी नाटक में बदलाव और विकास की उन सभी प्रवृत्तियों को देखने की कोशिश है। पुस्तक हिंदी नाटक के संबंध में किसी निश्चित विचार की निबंधात्मक अन्विति नहीं है। हिंदी नाटक के संबंध में अलग-अलग विचारों और समस्याओं को लेकर उन पक्षों का चिंतनपूर्ण विश्लेषण पुस्तक में संकलित शोध आलेखों में संभव हो सका है। इस प्रकाशन द्वारा यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि हिंदी नाटक के बारे में यह अध्ययन पूर्ण एवं समग्र है क्योंकि हिंदी नाटक के बहुत सारे ऐसे नाटककार और ऐसी प्रवृत्तियाँ छूट गई हैं जिन्हें यह पुस्तक प्रकाशित नहीं करती, इस ढंग का कोई प्रयास यहाँ किया भी नहीं गया। लेकिन पुस्तक में संकलित शोधात्मक सामग्री हिंदी नाटक का एक सबल व्यक्तित्व तो उद्घाटित करती ही है। कोशिश की जाएगी कि अगले प्रयास में इस अध्ययन को पूरा और समग्र करने की दिशा में बढ़ा जाए। यह ग्रंथ हिंदी नाटक और रंगमंच के बारे में कई नए आलेखों के साथ पूर्व प्रकाशित सामग्री का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण है। अध्ययन और अनुसंधान के लिए उपयोगी माने जाने वाले महत्वपूर्ण शोध आलेख पुनः प्रकाशित करने की जरूरत इसलिए पड़ी कि अनेक विद्यार्थियों द्वारा यह शिकायत की गई कि पहले जिन ग्रंथों में यह सामग्री प्रकाशित थी उनमें से वे पृष्ठ उनके पूर्ववर्तियों द्वारा फाड़ लिए गए हैं। इसलिए वे पुस्तकें पुस्तकालय में होने पर भी उस सामग्री के बगैर बेकार-सी पड़ी हैं। इसलिए काफी मात्रा में पूर्व प्रकाशित सामग्री इस प्रकाशन में भी सार्थक एवं उपयोगी है।

यह प्रकाशन एक सामूहिक प्रयत्न है। बड़े लोकतांत्रिक ढंग से इन आलेखों में मेरे शिक्षक विद्यार्थियों द्वारा हिंदी नाटक की जनतंत्रीय वैचारिकी अनुसंधान और आलोचना के तटस्थ अनुशासन के अंतर्गत की गई है और उनके द्वारा संबंधित विषय पर सटीक निष्कर्ष निकाले गए हैं, इसका मुझे परम संतोष है। वस्तुतः अपने विद्यार्थियों के साथ अध्ययन-अनुसंधान की यह सक्रियता न केवल मेरा ज्ञान वर्द्धन करती है बल्कि शिक्षक-धर्म की सार्थकता का बोध भी मुझे करवाती है। यहाँ उपनिषद् का यह मंत्र ध्यान हो आता है जिसका उल्लेख पूरी कामना के साथ करना चाहिए—

"ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।"

(हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनों की साथ-साथ सब प्रकार से रक्षा करें, हम दोनों का आप साथ-साथ समुचित रूप से पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकार से बल प्राप्त करें, हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसी से हम विद्या में परास्त न हों और हम दोनों जीवन भर परपस्पर स्नेह-सूत्र में बंधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो।)

यही इस 'ज्ञानात्मक संवेदन' का 'भरतवाक्य' है और परम आनंदकारी 'फलागम' की अवस्था भी।

अस्तु, प्रकाशन के इस प्रयास में डॉ. आनन्द प्रकाश शर्मा, डॉ. मुनीश शर्मा, डॉ. अमित सिंह, डॉ. राहुल सिद्धार्थ का विशेष सहयोग मिला और स्वराज प्रकाशन के श्री अजय मिश्रा ने प्रयत्नपूर्वक समय से इसे छापा। आभारी हूं।

रमेश गौतम

अनुक्रम

समयबोध का नाटककार भारतेंदु

❑ रमेश गौतम

परिवेशगत सच्चाई, या कहें कि यथार्थ की मजबूत पकड़ और वातावरण-विज्ञान की जितनी समझ भारतेंदु हरिश्चंद्र को थी उतनी शायद ही किसी अन्य हिंदी रंगकर्मी/नाट्यकर्मी की रही हो। भारतेंदु हरिश्चंद्र 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की देन हैं। उनका युग संक्रांति का युग था। अंग्रेजों की औद्योगिक क्रांति का प्राचीन शिक्षा और उद्योग-धंधों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि तत्कालीन समाज का बुद्धिजीवी सोच नहीं पाता था कि इस संक्रांतिकाल में क्या करें और क्या न करें। उसकी गति सांप-छछूंदर की हो गई थी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप इस सदी में यूरोपीय पूंजीवाद पनपने लगा था जिसका सर्वाधिक शुभ-परिणाम यह हुआ कि 1857 के विद्रोह से असफल एवं हताश भारतीय जनमानस में पुनः पश्चिमी एवं अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में राष्ट्रीय आंदोलन की देखा-देखी प्रच्छन्न तरीके से पुनः राजनीतिक संघर्ष की शुरुआत हो गई थी।

उधर, कहने को तो भारतीय राजनीतिक-पटल पर सन् 1885 ई. में कांग्रेस महासभा का उदय हो गया था, लेकिन मूल कार्य उस समय की राजनीतिक पार्टियां कम जबकि सामाजिक-धार्मिक नेता व जागरूक साहित्यकार अधिक कर रहे थे। सन् 1857 के बाद करीब-करीब सन् 1880 ई. तक अंग्रेजों ने मुसलमानों व हिंदुओं पर अपना दमन-चक्र जारी रखा लेकिन जब इस अत्याचार से उन्हें भीतरी विरोध तथा विद्रोह की गंध आने लगी तो राजनीतिक दृष्टि से कूटनीति बरतते हुए हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पहले से चले आते हुए सांप्रदायिक मतभेदों की खाई को उन्होंने और अधिक चौड़ा कर दिया। भारतेंदुयुगीन लेखकों एवं पत्र-संपादकों ने इस पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की। वस्तुतः एक साफ राजनीतिक लाइन के अभाव में उस युग का सचेतक साहित्यकार उदारवादी भावनाओं को अधिक तरजीह दे रहा था। भारतेंदुयुगीन लेखकों एवं पत्र-संपादकों ने इस पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की। भारतेंदु का स्वर इन सब रचनाकारों में सर्वाधिक ऊर्जस्व था। संभवतः वे जानते थे कि सामरिक दृष्टि से भारत अंग्रेजों को मात नहीं दे सकता। वे सामाजिक और प्रशासनिक सुधारों पर जोर देते हुए ब्रिटिश सत्ता को शब्दों की मार देना चाहते थे। 'भारत-दुर्दशा' नाटक में वे लिखते हैं—"हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एजूकेशन की एक सेना बनायी जाए, कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जाएं। आप लोग क्या कहते हैं?" (भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-1 पृ. 487) इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजों की औद्योगिक क्रांति से बढ़ती हुई महंगाई, बेकारी, टैक्सों की भरमार, फिजूलखर्ची, फैशन आदि से चरमरायी देश की अर्थव्यवस्था का भी व्यंजनापूर्ण चित्रण किया।

भारतेंदुयगीन समाज में सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियां अपनी अति पर थीं। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध जैसी वैवाहिक रूढ़ियां मुंह बाए खड़ी थीं। नारी वर्ग

उपेक्षित था। स्त्री-शिक्षा महज एक सपना थी तथा धार्मिक कर्मकांड तो अनपढ़ से लेकर पढ़े-लिखे समाज तक इस कदर छाए हुए थे कि विवेक की रोशनी भी वहां जाते हुए डरती थी। ऐसे में स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद प्रभृति महापुरुषों ने समाज को विसंगति विहीन बनाने का गुरुतर दायित्व संभाला। भारतेंदुकालीन रचनाकारों पर इन विद्वानों द्वारा चलाए गए युगीन सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि इस युग में साहित्य और चिंतन को नए उन्मेष के साथ प्रकट किया। भारतेंदु न केवल उन सब में अग्रणी थे बल्कि आने वाली पीढ़ी के प्रेरक भी थे। उनका व्यक्तित्व गजब का व्यक्तित्व था। अपने अतीत गौरव की संदर्भ सापेक्षता में जनजीवन की भाषा लेकर जब उन्होंने लिखना शुरू किया था तब वह प्रायः अकेले थे। बाद में उनके जीवंत व्यक्तित्व ने वह कमाल दिखाया कि एक भारतेंदु-मंडली ही तैयार हो गई। उनकी नाट्यधर्मिता और रंग-चेतना लोकधर्मिता से अटूट रूप से जुड़ी हुई है। देशभक्ति की अटूट भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने युग की जीवंत समस्याओं के प्रति जागरूक रुख अपनाया और जनसमाज को प्रबुद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया। उनके विचार से अब यह आवश्यक नहीं है कि अलौकिक विषयों का आश्रय लेकर नाटक आदि का प्रणयन किया जाए। वे केवल उन्हीं प्राचीन रीतियों व पद्धतियों का अनुकरण करना चाहते थे कि जो आधुनिक सामाजिक पीठिका में ग्राह्य हो सकती है। आंख मूंदकर परंपरा का पालन करने का दुष्परिणाम उन्होंने देख लिया था। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', 'नीलदेवी' तथा 'भारत-दुर्दशा—आदि नाटकों में उन्होंने देश की सामाजिक-राजनीतिक तथा धार्मिक व आर्थिक क्षेत्रों में संबंधित समस्याओं को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उन्होंने अपने समकालीन युग-यथार्थ का व्यंग्यात्मक विश्लेषण किया है। पुरोहित, राजा, मंत्री, यमराज, दूत व नरकलोक के मिश्रित वर्गीकरण जैसे—सूचीमुख नरक, कुंभीपाक नरक, रौरव नरक आदि पात्रों के माध्यम से अपने युग-यथार्थ का व्यंग्यात्मक विश्लेषण किया है। प्रश्न उठता है कि भारतेंदु को युगीन समस्याओं को अभिव्यंजित करने के लिए ऐसे मिथकीय तंत्र की आवश्यकता अनुभव क्यों हुई? वस्तुतः तत्कालीन राजनीतिक आंतक में अपनी आत्मा की आवाज को सीधे-सीधे कह देना न केवल मृत्यु-मुख में जाना था अपितु जनजीवन के लिए भी प्रगतिशील परंपरा में ऐसे तंत्रों के माध्यम से सांकेतिक अर्थ देते हुए उनकी रूढ़िगत चिंतन-परंपरा को बदलते रहने के लिए आवश्यक था। प्रस्तुत प्रहसन अपने यथार्थ में न केवल रूपवादी ढांचे में अपितु वस्तु-संदर्भ में भी प्रगतिशील है। नाटक का भेद प्रहसन अपनी शास्त्रीय परंपरा के केवल हंसी-मजाक के लिए प्रयुक्त किया जाता था। भारतेंदु की कलम से यह परंपरागत अर्थ टूटा और यहां यह गया हंसी की आड़ में तत्कालीन व्यवस्था व उसकी मशीनरी पर किया गया व्यंग्य।

वस्तु संदर्भ में कार्ल मार्क्स ने अगतिशीलता के तहत धर्म और सत्ता के जिन संबंधों का विश्लेषण किया था तथा भारतेंदु के लिखने तक वह प्रचारित भी न होने पाया, उसे भविष्यदर्शी भारतेंदु ने पहले ही पहचान कर अपनी रचनाधर्मिता में उपस्थित कर दिया था। प्रस्तुत प्रहसन में यमराज के दरबार में चित्रगुप्त राजा के अतीत कर्मो का बहीखाता पेश करते हुए कहता है—"महाराज, सुनिए! यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जो चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों ने ले ली, लाखों जीवों का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा धर्म्म-जाल किया, जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की,

जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।" (भा.ग्रं., सं. शिवप्रसाद मिश्र, पृ. 21-22) चित्रगुप्त का उपरोक्त कथन शासकवर्ग की चारित्रिक विशेषताओं को अभिव्यंजित कर रहा है। एकाध जगह व्यंग्य में स्थूलता आ गई है, जहां उन्होंने राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की राजभक्ति पर प्रहार किया है–

यमराज : प्रतिष्ठा कैसी, धर्म और प्रतिष्ठा से क्या संबंध?

चित्रगुप्त : महाराज सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।

(भा.ग्रं, पृ. 21-22)

ऐसा नहीं है कि भारतेंदु मार्क्सवादियों की तरह नास्तिक बन गए हों, लेकिन धर्म के संबंध में उनके विचार बड़े प्रगतिशील थे। वे यह कदापि नहीं मानते कि धर्म का सीधा संबंध खान-पान से है, लेकिन उन्हें इस बात पर घोर एतराज था कि धर्म की आड़ लेकर ये सब कुछ किया जाए। उनका वैष्णव मत धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक था। उसमें वितंडावाद के लिए कोई जगह नहीं थी। उनके लिए वह धर्म मान्य था जो पहले कभी कबीर, नानक, दादू और रैदास ने दिया और आगे चलकर जिसके लिए नामदेव और गांधी ने अपनी जोरदार आवाज पेश की। वस्तुतः उन्हीं के बीच की कड़ी थे–भारतेंदु। उनके लिए धर्म का आधार था श्रद्धा, करुणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा। उनके युग में धर्म की स्थापना के लिए आधारभूमि मिली महर्षि दयानंद और केशवचंद्र सेन से–यद्यपि बहुत-सी बातों में वे इन मनीषियों से असहमत भी थे। उन्होंने न केवल धार्मिक दृष्टि से बल्कि तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों पर भी प्रहार किया और मिथकीय संगति में अपनी युग-सापेक्षता के अंतर्गत वे विधवा-विवाह का समर्थन करते नजर आते हैं :

"पुनर्विवाह अवश्य करना। सब शास्त्र की यही आज्ञा है, और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती है, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर लेना उसको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी यही आज्ञा है।" (भा.ग्रं., पृ. 9)

इस प्रकार वे नारी-जाति के उत्थान व उद्धार के लिए प्रयत्नशील थे।

शासक वर्ग की पतनशीलता तथा धर्माचार्यो मे उसके भ्रष्ट संबंध भी नाटककार की पैनी दृष्टि के शिकार हुए हैं। जहां से यह प्रहसन आरंभ होता है वहीं सूत्रधार राजा को न केवल गृद्धराज कहता है बल्कि उसके डर से भाग जाना चाहता है। प्रथम अंक में रक्त से रंगे हुए राजभवन की रंगधर्मिता इस गृद्धराज का चरित्र-विस्तार है और अंत में जब चौबदार महाराज से कहता है कि 'संध्या भई महाराज' तो राजा 'सभा समाप्त करो' का आदेश देता है। यह प्रतीकात्मकता प्रथम अंक के उस संदर्भ से शुरू होती है जब मांस-लीला का प्रकरण समाप्त होता है और उनके पुरोहितों जैसे चाटुकारों द्वारा नारी-प्रसंग आरम्भ होता है। ऐसे में मिथकीय संकेत उस आयाम पर पहुंचते हैं जहां राजा अपने अधिकार के दम पर प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों को छोड़–मांस-मैथुन को ही अपना लक्ष्य मान लेता है। भारतेंदु के संकेत में यह राजा और कोई नहीं, ब्रिटिश राज है और उसके राज में चौबदार के शब्दों में, "संध्या' महज वह अंधेर है जिससे प्रजा त्रस्त है।" (भा.ग्रं., पृ. 10) धर्मभीरु प्रजा के शोषण में पुरोहित की भूमिका उल्लेखनीय रही। पुरोहित ही सत्ता के साथ सांठ-गांठ करके धर्म की स्वार्थगत व्याख्याएं देता है। अतः तीसरे अंक में, जब मंत्री और राजा नशे में धुत पुरोहित को एक सिर से पकड़ता है और दूसरा पैर से और फिर वे नाचने लगते हैं, तो ऐसे संवाद में समसामयिक अर्थ गहराने लगता है। पुरोहित के सिर को पकड़ता है राजा क्योंकि उसी की स्वार्थगत

धर्म-व्यवस्था से वह जनता को मूर्ख बनाता है और मंत्री पकड़ता है चरण क्योंकि राजा के विलास में मंत्री भी हिस्सेदार हो जाए, उसमें पुरोहित का आशीर्वाद संभवतः आवश्यक है।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और उसके कारण तत्कालीन शासन द्वारा किए जाने वाले शोषण का संकेत करते हुए नाटककार भारतेंदु यमराज रूपी प्रजा द्वारा उनकी सजा का जो फैसला देते हैं, वह मूलतः फैसला नहीं है बल्कि यथार्थ की धरती पर रचनाकार का स्वप्न है, इसीलिए शायद अंत में अपने इस सपने को भारतेंदु उथले रूप में कह गए हैं–

> *"निज स्वारथ को धरम दूर या जग सौं होई*
> *ईश्वर पद में भक्ति करें छल बिनु सब कोई*
> *खल के विष-बैनन सौं मत सज्जन दुःख पावै*
> *छुटै राजकर मेघ समय पै जल बरसावै।"*

(भा. ग्रं., पृ. 27)

इस तरह 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में जहां समाज के धर्माडंबर एवं उससे संबंधित सत्ता समेत अनेक स्वार्थी तत्त्वों को हास्य और व्यंग्य के माध्यम से उघाड़ने का प्रयास किया है, वहां 'अंधेरी नगरी' में उसी 'हास्य-व्यंग्य' का अपेक्षाकृत अधिक मुखर व पैने शब्दों में आधार लेकर युगीन राजनीतिक व्यवस्था पर जोरदार मिथकीय प्रहार है। लोककथा पर आधारित इस नाटक से उत्पन्न हास्य-व्यंग्य भारतेंदु के अपने युग के राजनीतिक-यथार्थ से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। आलोचकों ने 'अंधेरी नगरी' के कई लौकिक स्रोत ढूंढे। एक आलोचक के अनुसार बिहार प्रांत के किसी जमींदार के अन्याय को लक्ष्य करके इस लोककथा को भारतेंदु द्वारा नाटक का रूप प्रदान किया गया था। स्रोत यह हो या कोई और, यह निश्चित है कि इस लोकश्रुति का आधार कहीं-न-कहीं किसी हिंदी प्रदेश से जुड़ा हुआ है और जहां भी, जब भी राजा की प्रजा के प्रति उदासीनता व उसके विलास-वैभवों का चरम व इससे उत्पन्न अराजकता उत्पन्न हुई है वहीं यह कहावत जनमानस की जिह्वा पर अवश्य आई होगी। हाँ, यह बात और है कि इसे रचनात्मक संदर्भ देने की सामर्थ्य भारतेंदु जैसे एक-आध लोगों ने ही पेश की हो। एक-आध इसलिए कि भारतेंदु ने जब यह नाटक लिखा तो उसकी परंपरा कहिए या नकल में दो-एक नाटक लिखे गए थे, लेकिन उन नाटककारों के व्यक्तित्व का अभाव कहिए या जनश्रुति के आधार पर संदर्भ सापेक्षता की पकड़ में कमजोरी कि वे नाटक नहीं चले। भारतेंदु ने जिस लौकिक मिथ को संदर्भ सापेक्षता दी है, उसके अनुसार एक अंधेर नगरी थी जिसमें चौपट राजा राज करता था। उसके बाजार में कबाब वाला, घासीराज अर्थात् भड़भूजा, नारंगी वाला अर्थात् फल वाला, हलवाई, कुंजड़िन अर्थात् सब्जी वाला, मुगल अर्थात् बादाम-पिस्ते वाला, पाचक वाला अर्थात् चूर्ण वाला, मछली वाला, बनिया, जात-पांत की रखवाली करने वाला ब्राह्मण यानी कुल मिलाकर सब कुछ का भाव टके सेर था। ऐसे नगर में एक महंत अपने दो शिष्यों–नारायणदास व गोबरधन के साथ आ निकले। ऐसे नगर जहां टके सेर भाजी टके सेर खाजा हो–में रहना महंत खतरे से खाली नहीं समझता किंतु महंत का शिष्य गोबरधन अंधेर नगरी में ही रहने की इच्छा प्रकट करता है। एक बार चौपट राजा के दरबार में एक फरियादी आया। कल्लू बनिये की दीवार गिरने से उसकी बकरी नीचे दबकर मर गई थी। राजा ने अजीब न्याय किया–दीवार से जितने भी लोग संबंध रखते थे–जैसे कल्लू बनिया, कारीगर, चूने वाला, चूने में पानी डालने वाला, भिश्ती, भिश्ती बनाने वाला कसाई, कसाई-मसक से संबंधित गड़रिया, सबको एक-एक कर आंख मींचकर अपराधी ठहराया गया और इसी तरह सबने अपने अपराध दूसरे